



वीतराग-विज्ञान (अप्रैल-मासिक) * 26 मार्च 2010 • वर्ष 28 • अंक 9

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

गाथा ४१ की टीका में समागत दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(मालिनी)

सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः ।
उभयसमयसारं सारतत्त्वस्वरूपं
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः ॥५९॥

(हरिगीत)

भोगियों के भोग के हैं मूल सब शुभकर्म जब ।
तत्त्व के अभ्यास से निष्णातचित्त मुनिराज तब ॥
मुक्त होने के लिए सब क्यों न छोड़ें कर्म शुभ ।
क्यों ना भजें शुद्धात्मा को प्राप्त जिससे सर्व सुख ॥५९॥

सभी प्रकार के शुभकर्म भोगियों के भोग के मूल हैं । इसलिए परम तत्त्व के अभ्यास में चतुरचित्तवाले हे मुनिजनों ! तुम संसारबंधन से मुक्त होने के लिए सभी प्रकार के शुभकर्मों को छोड़ो और सारतत्त्वरूप द्रव्य और भाव - दोनों प्रकार के समयसार (शुद्धात्मा) को भजो । इसमें क्या दोष है? अर्थात् इसमें कोई दोष नहीं है ।

उक्त छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“दया, दान, व्रत, तप, पूजा, भक्ति, स्वाध्यायादिरूप शुभभाव के फल में जो अनुकूल संयोग मिलते हैं; वे संसार हैं, भोगियों के भोग के मूल हैं । वे शुभभाव आत्मा के धर्म का कारण नहीं हैं ।”

मुनियों को शुभभाव का आदर तो है ही नहीं, उसका तो उनके निषेध ही वर्तता है; परन्तु अस्थिरता के शुभभाव को भी छोड़ो - यहाँ तो ऐसा कहते हैं । ऐसा भी कहते हैं कि शुद्धस्वभाव और उससे प्रगटित शुद्धपर्याय - इसप्रकार दोनों समयसार को भजो ।

त्रिकालस्वभाव की सेवा करने में दोनों की सेवा आ जाती है; दोनों में अविनाभावी संबंध है । यह तो समझाने की-उपदेश की शैली है कि शुभव्यवहार को छोड़ो और शुद्धस्वभाव जो निश्चय है, उसको भजो; वास्तव में तो शुद्धस्वभाव का ग्रहण करते ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है और शुभभाव स्वयं ही छूट जाता है, छोड़ना नहीं पड़ता ।”

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ - ३७०

२. वही, पृष्ठ - ३७१

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि सभी प्रकार के शुभ कर्मों का फल अधिकांशतः भोग सामग्री की उपलब्धि ही होता है। यही कारण है कि यहाँ चतुरचित्तवाले मुनिराजों से यह अनुरोध किया गया है कि वे सभी प्रकार के शुभकर्मों से विरक्त हो निज शुद्धात्मा का ध्यान करें।

साथ में यह भी कहा गया है कि हम जो कह रहे हैं; वह बात पूर्णतः निर्दोष है। इस कथन में किसी भी प्रकार का दोष निकालना समझदारी का काम नहीं है।

नियमसार गाथा ४२

जीव के क्षायिकभाव, क्षयोपशमभाव, उपशमभाव और उदयभाव के स्थान नहीं हैं - विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह बताते हैं कि जीव के चतुर्गति परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान भी नहीं हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोगसोगा य।

कुलजोणिजीवमगणठाणा जीवस्स णो संति॥४२॥

(हरिगीत)

चतुर्गति भव भ्रमण रोग रु शोक जन्म-जरा-मरण।

जीवमार्गणथान अर कुल-योनि ना हों जीव के॥४२॥

चार गति के भवों में परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, शोक, रोग, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान भी इस जीव के नहीं हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ इस गाथा में यह कहा गया है कि शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीव के समस्त संसार विकारों का समुदाय नहीं है।

द्रव्यकर्म और भावकर्मों की स्वीकृति का अभाव होने से नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव - इन चार गतियों का परिभ्रमण जीव के नहीं है।

नित्य शुद्ध चिदानन्दस्वरूप कारणपरमात्मास्वरूप जीव के द्रव्यकर्म व भावकर्म के ग्रहण करने योग्य विभावपरिणति का अभाव होने से जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक जीव के नहीं हैं।

चार गतियों में परिभ्रमण करनेवाले जीवों को होनेवाले कुल और योनि के भेद भी शुद्धजीव के नहीं हैं।

कुल व योनि के भेद इसप्रकार हैं - पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख करोड़ कुल

हैं; अपकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं; तेजकायिक जीवों के तीन लाख करोड़ कुल हैं; वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं; वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं; द्वीन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं; त्रीन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़ कुल हैं; चतुरिन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं; पंचेन्द्रिय जीवों में जलचर जीवों के साठे बारह लाख करोड़ कुल हैं; खेचर (नभचर) जीवों के बारह लाख करोड़ कुल हैं; चार पैरवाले जीवों के दस लाख करोड़ कुल हैं; सर्पादिक पेट से चलनेवाले जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं; नारकी जीवों के पच्चीस लाख करोड़ कुल हैं; मनुष्यों के बारह लाख करोड़ कुल और देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं। इसप्रकार कुल मिलाकर एक सौ साठे सत्तानवे लाख करोड़ (१९७५००००,००,००,०००) कुल हैं।

पृथ्वीकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; अपकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; तेजकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; वायुकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; नित्यनिगोदी जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; चतुर्गति (चार गति में परिभ्रमण करनेवाले अर्थात् इतर) निगोदी जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; वनस्पतिकायिक जीवों के दस लाख योनिमुख हैं; द्वीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं; त्रीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं; चतुरिन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं; देवों के चार लाख योनिमुख हैं; नारकी जीवों के चार लाख योनिमुख हैं; तिर्यच जीवों के चार लाख योनिमुख हैं; मनुष्यों के चौदह लाख योनिमुख हैं। इसप्रकार कुल मिलाकर चौरासी लाख (८४०००००) योनिमुख हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, स्थूल एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त – ऐसे भेदोंवाले चौदह जीवस्थान हैं।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार – ऐसे भेदस्वरूप चौदह मार्गणास्थान हैं।

यह सब, उन भगवान परमात्मा को शुद्धनिश्चयनय के बल से अर्थात् शुद्ध-निश्चयनय से नहीं हैं – ऐसा भगवान सूत्रकर्ता श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव का अभिप्राय है।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसके भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“त्रिकाली स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि से अर्थात् एकरूप शुद्धस्वभाव को देखनेवाले ज्ञान के पक्ष से देखने में आवे तो जीव त्रिकालशुद्ध है और समस्त सांसारिक विकारों

का समुदाय नहीं है - ऐसा इस गाथा में कहा है।^१

त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि ज्ञानावरण आदि आठ पुद्गल कर्मों का तथा राग-द्वेषादि भावकर्मों को स्वीकार नहीं करती। पुण्य-पापादि क्षणिक भावों को जो जीव स्वीकार करता है, उसको शुद्धस्वभाव का स्वीकार नहीं है; अतः वह नवीन कर्म बांधता है और चतुर्गति में भटकता है।

धर्मीजीव को पुण्य-पाप का तथा कर्म का स्वीकार नहीं, उसे तो शुद्धचैतन्य का स्वीकार है; उसे पर्यायबुद्धि नहीं, स्वभावबुद्धि है। ज्ञानी को भी निर्बलता का राग-द्वेष होता है; किन्तु वह गौण है। उसका अस्वीकार है; अतः उसी के फलरूप गति का भी स्वीकार नहीं।^२

यह शुद्धभाव का अधिकार है। शुभाशुभ भाव आत्मा की पर्याय में होते हैं, उनकी तो नहीं; किन्तु शुद्धस्वभाव के आश्रय से जो शुद्धभाव नवीन प्रगट होता है, उसकी भी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो चैतन्यस्वभाव-एकरूप शुद्धस्वभाव जो शुद्धता प्रकट होने का कारण है - ऐसे अनादि-अनन्त एकरूप कारणशुद्धभाव का अधिकार है।

कारणशुद्धभाव कहो, कारणपरमात्मा कहो, एकरूप सदृशस्वभाव कहो, चैतन्य-स्वभाव कहो, परमपारिणामिकभाव कहो - सभी एकार्थवाचक हैं। ऐसे शुद्धभाव के आश्रय से धर्मदशा प्रकट होती है।^३

ऐसा लेख पढकर कोई स्वच्छन्दी जीव ऐसा अर्थ निकाले कि आत्मा एकान्त से शुद्ध है और पर्याय में भी अशुद्ध नहीं है तथा भेद भी नहीं है, मात्र अभेद और कूटस्थ ही है, तो ऐसी मान्यता खोटी है।

आत्मवस्तु ध्रुव होने पर भी पर्याय अपेक्षा से समय-समय पलटती है। सिद्धों में भी परिणामन है। संसारी हो अथवा सिद्ध, सभी में प्रतिसमय अवस्था होती रहती है।

द्रव्य परिणामरहित कभी भी नहीं हो सकता। संसार में अशुद्धरूप और सिद्ध में शुद्धरूप जो भी परिणामन है; वह पर्याय में पर्यायदृष्टि से सत् है, अवस्तु नहीं।^४

पर्याय में अशुद्धता के भेद पड़ते हैं - इस तरह पर्याय का स्वीकार करे और त्रिकालस्वभाव में ऐसे भेद नहीं हैं - इसप्रकार निश्चय से स्वीकार करे तो व्यवहार-प्रमाणज्ञान होता है।^५

अकेले भेदों को माने और अभेद त्रिकालीस्वभाव की तरफ न ढले तो उसका ज्ञान खोटा है। अभेद स्वभाव को शुद्ध मानकर पर्याय की अशुद्धता अथवा पर्याय को ही न स्वीकारे तो भी खोटा है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ - ३७४

२. वही, पृष्ठ - ३७४

३. वही, पृष्ठ - ३७८

४. वही, पृष्ठ - ३८२

५. वही, पृष्ठ - ३८३

पर्याय का ज्ञान करके त्रिकालस्वभाव में ऐसे भेद नहीं हैं - यह बात यहाँ कहना है। पर्याय में से पर्याय नहीं आती; किन्तु त्रिकालशक्ति में से पर्याय प्रगट होती है; इसलिए अंशबुद्धि, व्यवहारबुद्धि छुड़ाने के लिए और अभेदबुद्धि, स्वभावबुद्धि कराने के लिए जीव में मार्गणास्थानादि के भेद नहीं हैं - ऐसा कहा।

ऐसा अभेद शुद्धभाववाला आत्मा सम्यग्दर्शन का कारण है।^१”

यद्यपि इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि इस भगवान आत्मा के जन्म, जरा, मरण, शोक, रोग, कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान और चतुर्गति परिभ्रमण नहीं है; तथापि टीका में जीवस्थान और मार्गणास्थान के भेदों को भी नाम सहित गिना दिया है। न केवल इतना ही बल्कि चौरासी लाख योनियाँ और एक सौ साढे सत्तानवे लाख करोड़ कुलों को भी विस्तार से स्पष्ट किया है।

इसके बाद टीकाकार ‘तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है’ - ऐसा कहकर दो छन्द उद्धृत करते हैं, उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है -

(मालिनी)

सकलमपि विहायाह्वाय चिच्छक्तिरिक्तं

स्फुटरमवगाह्यं स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।

इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्

कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥१८॥^२

(हरिगीत)

चैतन्यशक्ति से रहित परभाव सब परिहार कर ।

चैतन्यशक्ति से सहित निजभाव नित अवगाह कर ॥

है श्रेष्ठतम जो विश्व में सुन्दर सहज शुद्धात्मा ।

अब उसी का अनुभव करो तुम स्वयं हे भव्यात्मा ॥

हे भव्यात्मन् ! चैतन्यशक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को छोड़कर और अपने चैतन्यशक्तिमात्र भाव को प्रगटरूप से अवगाहन करके लोक के समस्त सुन्दरतम पदार्थों के ऊपर तैरनेवाले अर्थात् पर से पृथक् एवं सर्वश्रेष्ठ इस एकमात्र अविनाशी आत्मा को अपने आत्मा में ही देखो, अपने-आप में ही साक्षात्कार करो, साक्षात् अनुभव करो ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“जिसप्रकार मोती लेने के लिए समुद्र में डुबकी लगाते हैं; उसीप्रकार निश्चयनय से शुद्धस्वभाव का अवलम्बन करके, उसमें एकाग्रता करो और समस्त विश्व के ऊपर

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ - ३८३

२. समयसार कलश - ३५

तैरते हुए अखण्ड अविनाशी केवल आत्मा को आत्मा में साक्षात् अनुभवो। दया-दान-भक्ति एक समय के परिणाम हैं, उनसे धर्म होनेवाला नहीं, उनसे भिन्न शुद्धात्मा में डुबकी मारो; क्योंकि उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके एकाग्र होने पर अन्य सकल भाव छूट जाते हैं।

शुद्ध आत्मा का अनुभव किसी परपदार्थ से तो नहीं; किन्तु विकार से भी नहीं होता; शुद्ध अनुभव तो स्वयं से होता है। शुद्ध आत्मा को आत्मा में अनुभवो - ऐसा आचार्य भगवान कहते हैं।^१”

समयसार की आत्मख्याति टीका में समागत उक्त छन्द में यही कहा गया है कि वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जितने भी भाव हैं; वे सभी चित्शक्तिमात्र आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं; अतः उन सभी भावों से अपने उपयोग को समेटकर अनन्त गुणों के अखण्डपिण्ड चित्शक्तिमात्र अविनाशी एक उक्त आत्मा में ही लगा दो।

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(अनुष्टुभ्)

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।

अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥१९॥^२

चित् शक्ति सर्वस्व जिन, केवल वे हैं जीव।

उन्हें छोड़कर और सब, पुद्गलमयी अजीव ॥

जिसका सर्वस्व, जिसका सार चैतन्यशक्ति से व्याप्त है; वह जीव मात्र इतना ही है; क्योंकि इस चैतन्यशक्ति से शून्य जो भी अन्यभाव हैं; वे सभी पौद्गलिक हैं, पुद्गलजन्य हैं, पुद्गल ही हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“जानने-देखनेवाला स्वभाव ही एकसाररूप है और यह जीव इतना ही मात्र है तथा जो जानने-देखने के स्वभाव से शून्य विकारी भाव हैं; वे साररूप नहीं हैं, वे सभी पौद्गलिक हैं।

पुण्य-पाप के भावों को यहाँ पौद्गलिक कहा - उसका भाव यह नहीं है कि वे स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाले हैं; क्योंकि वे विकारी पर्यायें जीव में ही होती हैं, जड़ में नहीं होतीं।

तत्त्वार्थसूत्र में पर्याय अपेक्षा से विकार को स्वतत्त्व कहा है। विकार पुद्गल के लक्ष्य से होता है और शुद्धस्वभाव में वह नहीं है तथा आत्मा में से निकल जाता है; इस अपेक्षा से उसे पौद्गलिक कहा है; अतः चैतन्यशक्ति जिसका सार है - ऐसे शुद्धात्मा को तू भज। सम्पूर्ण कथन का सार यह है।^३”

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ-३८४-३८५ २. समयसार कलश-३६ ३. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ-३८५

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि भगवान आत्मा तो चैतन्य शक्तिमात्र है। इससे भिन्न जितने भी भाव हैं; वे सभी भाव पौद्गलिक हैं, अजीव हैं, अचेतन हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा को छोड़कर अन्य सभी भाव अपनापन स्थापित करने योग्य नहीं हैं, निजरूप जानने योग्य नहीं हैं, जमने-रमने योग्य नहीं हैं; अतः हे आत्मन् इन सबमें से एकत्व-ममत्व तोड़कर स्वयं में ही समा जावो।

अब मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं, उनमें से पहला इसप्रकार है -
(मालिनी)

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा

व्रजति न च विकल्पं संसृतेर्घोररूपम् ।

अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः

परपरिणतिदूरं याति चिन्मात्रमेषः ॥६०॥

(रोला)

रहे निरन्तर ज्ञानभावना निज आत्म की।

जिनके वे नर भव विकल्प में नहीं उलझते ॥

परपरिणति से दूर समाधि निर्विकल्प पा।

पा जाते हैं अनघ अनूपम निज आत्म को ॥६०॥

अनवरतरूप से अखण्ड ज्ञान की सद्भावनावाला आत्मा संसार के घोर विकल्पों में नहीं उलझता; अपितु निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता हुआ परपरिणति से दूर, अनुपम, अनघ (पाप रहित) चिन्मात्र आत्मा को प्राप्त करता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं

“मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं; आत्मा शुद्ध है - ऐसी जो भावना भाता है, वह संसार के घोर विकल्पों को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उसको व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प की भी रुचि नहीं रहती। आत्मा की भावना तो स्वयं पर्याय है; परन्तु उस पर्याय का ध्येय त्रिकाली शुद्धस्वभाव है।

इसप्रकार जो जीव पुण्य-पापादि व्यवहार की रुचि छोड़कर शुद्ध-स्वभाव की रुचि करता है, वह निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता है। यही जीव पुण्य-पाप की परिणति से दूर है, जिसको कोई उपमा न दी जा सके - ऐसा है और पुण्य-पाप के दोष रहित शुद्ध चैतन्यमात्र को प्राप्त करता है।

इस भांति जो जीव त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की भावना भाता है; वह जीव शान्ति को अर्थात् मोक्षदशा को पाता है।”

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ-३८६

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि इस भगवान आत्मा की आराधना करनेवाला आत्मा सांसारिक विकल्पों में नहीं उलझता; वह तो निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करके अनुपम चिन्मात्र निज भगवान आत्मा को प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि यदि हम भी आत्मा की आराधना चाहते हैं तो हमें सांसारिक विकल्पों से दूर ही रहना चाहिए; क्योंकि निर्विकल्प हुए बिना आत्मा की प्राप्ति संभव नहीं है।

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(स्रधरा)

इत्थं बुद्ध्वोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्नमालार्चितांग्रेः ।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वांतविध्वंसदक्षं
एते संतो भवाब्धेरपरतटममी यांति सच्छीलपोताः ॥६१॥

(रोला)

भक्तामर की मुकुट रत्नमाला से वंदित ।

चरणकमल जिनके वे महावीर तीर्थकर ॥

का पावन उपदेश प्राप्त कर शीलपोत से ।

संत भवोदधि तीर प्राप्त कर लेते सत्वर ॥६१॥

भक्ति से नमस्कार करते हुए देवेन्द्र के मुकुट में जड़ित रत्नों की प्रभा से प्रकाशित हैं चरण-कमल जिनके; उन तीर्थकर भगवान महावीर का जन्म-जरा-मृत्यु और पाप समूह का नाशक उपदेश प्राप्त कर, सत्शील रूपी जहाज द्वारा, संतगण संसार सागर से उस पार पहुँच जाते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“पर्याय में होनेवाला विकार मात्र एक समय की स्थितिवाला है, शुद्धस्वभाव में विकार नहीं है। भगवान का ऐसा उपदेश अपने में यथार्थ धारण करके सन्तजन शुद्धस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य प्रगट करते हैं और उस रत्नत्रयरूपी नौका द्वारा भवरूपी समुद्र को उल्लंघन कर मोक्षदशा को पाते हैं।”

इस छन्द को हम मध्य मंगलाचरण के रूप में देख सकते हैं। इसमें शत इन्द्रों से पूजित भगवान महावीर के उपदेश से सत्शीलरूप जहाज के सहारे संतगण संसार समुद्र से पार होते हैं - यह कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि जिनवाणी के माध्यम से तत्त्व समझकर, आत्मानुभूतिपूर्वक संयम धारण करके संसार से पार हुआ जा सकता है, मुक्ति की प्राप्ति की जा सकती है। ●

